पुस्तक मिलने का पता:—

साहित्य भवन लिमिटेड

इलाहाबाद

भग्नदूत

'अज्ञेय'

मूल्य

॥=)

प्रथम संस्करण

१९३३

प्रकाशक

B. H. VÁTSYÁYANA, B. Sc.
KING EDWARD MEDICAL COLLEGE
LAHORE

प्राप्तिस्थान

हिन्दी भवन
अनारकली, लाहौर

मुद्रक

श्री देवचन्द्र विशारद
हिन्दी भवन प्रेस
लाहौर

जिनका अनुभव मैं यहाँ दो हज़ार मील पर
वैठा भी कर लिया करता हूँ उन्हीं
पूज्य पितृदेव को
सादर समर्पित

"अज्ञेय"

आदेश

भग्नदूत ! उनके आगे
नतशिर हो आँखें लेना मीच—
कवि की असफलता का
जीवित चित्र वहीं देना तुम खींच !

"अज्ञेय"

असामर्थ्य

गायन में रोती हैं आँखें
गायन में ही हँसते ओंठ,
क्या लख पाओगे इसमें तुम
मेरे अन्तस्तल की चोट !

आँसू आँखों में छा जाते,
उद्रेकों से रुँधता कण्ठ—
भरते जीवन प्याले में क्या
देखोगे मम सूनापन !

नवम्बर, १९३१.

कविता

मानस-मरु में व्यथा-स्रोत
स्मृतियाँ ला भर भर देता था,
'वर्त्तमान' के सूनेपन को
'भूत' प्लवित कर देता था।

वातावलियों से ताड़ित हो
लहरें भटकी फिरती थीं—
कवि के विस्तृत हृदय-क्षेत्र में
नृत्य हिलोरें करती थीं।

चिर-संचय से धीरे धीरे
कवि-मानस भी भर आया
किन्तु न फूट निकलने को पथ
भाव-तरंगिनि ने पाया।

फिर भी कूलों से पागल सा
छलक गया वह पारावार—
'कविता! कविता!' कहता
उसमें बहा जा रहा सब संसार!

दिसम्बर, १९३१.

सौंदर्य्य

तेरी आँखों में क्या मद है जिसको पीने आता हूँ—
जिसको पीकर प्रेम-पाश में तेरे मैं बँध जाता हूँ ?

तेरे उर में क्या सुवर्ण है जिसको लेने आता हूँ—
जिसके लेते हृदयद्वार की राह भूल मैं जाता हूँ ?

तेरी काया में क्या गुण है जिसको लखने आता हूँ—
जिसको लखकर तेरे आगे हाथ जोड़ रह जाता हूँ—

१९२९.

दृष्टिकोण

'हा, यदि मैं दीपक होता !'
कहता फिरता है मत्त पतङ्ग—
कितने ही मेरे जैसे हो
हो जाते मुझ पर उत्सर्ग !'

झिप झिप कर दीपक कहता है
'हाय पतङ्गा मैं न हुआ !
मदमाती सी अग्निशिखा पर
जल कर तन्मय मैं न हुआ !'

दिसम्बर, १९३०.

बत्ती और शिखा

मेरे हृदय रक्त की लाली
इसके तन में छाई है,
किन्तु मुझे तज दीप-शिखा ने
पर से प्रीति लगाई है।

इस पर मरते देख पतंगे
नहीं चैन मैं पाती हूँ—
अपना भी परकीय हुआ,
यह देख जली मैं जाती हूँ।

नवम्बर, १९३१.

दीपावली का एक दीप

दीपक हूँ मस्तक पर मेरे
अग्नि-शिखा है नाच रही—
यही सोच समझा था शायद
आदर मेरा करें सभी !

किन्तु जल गया प्राण-सूत्र जब
स्नेह सभी निःशेष हुआ—
बुझी ज्योति मेरे जीवन की
शव से उठने लगा धुआँ;

नहीं किसी के हृदय-पटल पर
खिंची कृतज्ञता की रेखा,
नहीं किसी की आँखों में
आँसू तक भी मैंने देखा !

मुझे विजित लखकर भी दर्शक
नहीं मौन हो रहते हैं,
तिरस्कार विद्रूप भरे वे
वचन मुझे आ कहते हैं—

'बना रखी थी हमने दीपों
की सुन्दर ज्योतिर्माला—
रे कृतघ्न, तूने बुझ कर क्यों
उसको खण्डित कर डाला ?'

अप्रैल, १९३२.

एकाकिनी

छिप जाता है प्रत्यूषा में
जैसे स्वप्नों का उल्लास,
वैसे ही बुझ रही कुमुदिनी
ले अतृप्त प्राणों की प्यास।

पा सकता है हर कोई उसके
मृदु सौरभ का आभास
किन्तु इन्दु के लिए सुरक्षित
उसके प्राणों का उच्छ्वास !

नवम्बर, १९३१.

प्रातः कुमुदिनी

खींच कर ऊषा का आञ्चल,
इधर दिनकर हैं मन्द हसित ।
उधर कम्पित हैं रजनीकान्त
प्रतीची से होकर चुम्बित ।

देख कर दोनों ओर प्रणय
खड़ी क्योंकर रह जाऊँ मैं ?
छिपा कर सरसी उर में शीश
आत्म-विस्मृत हो जाऊँ मैं !

दिसम्बर, १९३१.

प्रातः कुमुदिनी

खींच कर ऊषा का आञ्चल
इधर दिनकर हैं मन्द हसित,
उधर कम्पित हैं रजनीकान्त
प्रतीची से होकर चुम्बित।

देख कर दोनों ओर प्रणय
हो रहा मेरा उर है क्षुब्ध;
तड़ाग के शीतल अन्तर में
डूबकर हो जाऊँ मैं लुप्त !

दिसम्बर, १९३१.

कुमुदिनी

जला जला कर दिन भर जग को
जब दिनमणि थक जाता है,
दिग्बाला के आँचल में छिप
प्रणय सान्त्वना पाता है;

जब उत्कण्ठित रजनी प्रिय के
चिन्तन में सुध खोती है,
नभपथ में निज नयन बिछाकर
काँप काँप कर रोती है;

जब तारागण बहुविधिभूषित
हो आकाश सजा देते,
मानों उनके अभिनन्दन-हित
स्वागतसभा बना लेते;

तब आते हैं इन्दु, साथ में
लिए विशाखों से अनुचर
पागल रजनी की उत्कण्ठा
से देते हैं आँखें भर ।

तारकगण को भी सनाथ कर
नीरव गायन से भरते,
आँखों को विशाख की हैं वे
लज्जा से मीलित करते ।

मैं ही हूँ इतनी हीना, मुझ-
को वे देख नहीं पाते,
लज्जित सी, सहमी सी मुझको
छोड़ अलोनी ही जाते।

\+ + + +

एकाकिनि होकर भी मैं उन-
के स्वागत को खिलती हूँ,
उनके जाने पर उनकी किरणों
की रज में मिलती हूँ।

दीना हूँ, हीना हूँ, फिर भी
प्राण निछावर करती हूँ,
जो जीवनदाता हैं उन के
जाने पर मैं मरती हूँ !

नवम्बर, १९३१.

सन्ध्या को

सन्ध्या को पंकज में तू अलि !
बद्ध हुआ तो रोता क्यों है ?
निशि आएगी आने दे, मधु के
स्वादन को खोता क्यों है ?

इस सुरभित बन्धन से आकर
मुक्त करेगी तुझको ऊषा—
पर तब झड़ जाएगी अविकच–
कमलकली की मृदु मञ्जूषा !

क्यों विकल्प करता है प्रेमी !
तू प्रतिमा के आगे आकर ?
क्यों भावी की चिन्ता में तू
भूला है रसनिधि को पाकर ?

आभा से प्रदीप की मन में
उसकी मञ्जुल मूर्ति बसाले—
जाने फिर किन सञ्चित स्मृतियों
को ऊषा खण्डित कर डाले !

सितम्बर, १९३१.

तुम और मैं

मैं मिट्टी का दीपक, मैं ही
हूँ उसमें जलने का तेल—
मैं ही हूँ दीपक की बत्ती
कैसा है विधि का यह खेल !

तुम हो दीप-शिखा, मेरे उर
का अमृत पी जाती हो—
जला जला कर मुझको ही
अपनी तुम दीप्ति बढ़ाती हो।

तुम हो प्रलय-हिलोर, तुम्हीं हो
घोर प्रभञ्जन झंझावात,
तुम ही हो आलोकस्तंभ, कर—
देती हो आलोकित रात।

मैं छोटी सी तरिणी सा
तेरी लपेट में बहता हूँ
फिर भी पथ-दर्शन की आशा
से चोटें सब सहता हूँ।

नवम्बर, १९३१.

मणि-मेखला

इच्छा थी अनामिका पर मैं
अंगूठी पहिना जाऊँ;
इच्छा थी तेरी सुषमा पर
अपना चिह्न जमा जाऊँ ।

वह मरीचिका थी तो उसको
भूली ही अब रहने दे—
पर क्षण भर चरणों पर अपने
भक्ति अर्घ्य यह बहने दे !

आशा थी नतशिर पर तेरे
वरमाला पहनाऊँगा,
आशा थी सलज्जवदना तुझ
को अपना ले जाऊँगा ।

व्यर्थ हुई आशा पर मन को
क्षणिक शान्ति तू देने दे,
एक बार इस अलकावलि का
एक छोर छू लेने दे !

थी कामना कि भुज-बन्धन में
बाँध तुझे ले जा पाऊँ,
कनक-खचित-मन्दिर में प्रतिमा
तेरी मैं बिठला पाऊँ।

विफलीभूता प्रणय-कामना
की अब जलन मिटाने दे—
स्नेह-भाव से ही निज कटि पर
मणि-मेखला लगाने दे!

सितम्बर, १९३१.

खण्डित स्मृति

तन में तेरे चरणों की मैं
परिमल धूलि रमाए,
मनमें तेरे मुख की आभा
की मैं याद बसाए—

तुझे खोजती कहाँ कहाँ पर
भटकी मारी मारी,
पर निष्ठुर तू पास न आया
मैं रो रो कर हारी !

आज लगा जब मेरा पिञ्जर
उसी व्यथा से जलने
तब तू आया उसी राख को
पैरों तले कुचलने !

भूला, भूला रहता, मैं भी
समझा लेती मन को—
क्यों बिखराया तूने फिर
आ गरीबिनी के धन को ?

सितम्बर, १९३१.

क्योंकर मुझे भुलाओगे ?

दीप बुझेगा पर दीपक की
स्मृति को कहाँ बुझाओगे ?
तारें वीणा की टूटेंगी—
लय को कहाँ दबाओगे ?

फूल कुचल दोगे तो भी
सौरभ को कहाँ छिपाओगे ?
मैं तो चली चली, पर अब तुम
क्यों कर मुझे भुलाओगे !

तारागण के कम्पन में
तुम मेरे आँसू देखोगे,
सलिला की कलकल ध्वनि में
तुम मेरा रोना लेखोगे।

पुष्पों में, परिमल समीर में,
व्याप्त मुझी को पाओगे,
मैं तो चली चली, पर प्रियवर !
क्यों कर मुझे भुलाओगे ?

सितम्बर, १९३१.

निश्चय

सन्ध्या की नीरवता में
जब तुझ को मैं पाती हूँ,
लखकर तेरी सुषमा को
पुलकित मैं हो जाती हूँ—

तब क्यों तू मुझको निर्मम !
ऊषा की याद दिलाता,
क्यों आशा के नव पल्लव—
को पैरों तले दबाता ?

जब ऊषा से कुछ पहले—
शशि की फीकी ज्योत्स्ना में,
मैं प्रेम-विह्वला हो कर
लगती हूँ तुझे निरखने—

तब क्यों तू करता खण्डन
मेरी अभिलाषाओं का,
अविरल जलधारा के से
नीरव निर्झर स्वप्नों का ?

\+ + + + +

इन पीड़ा की टीसों को
गायन में उलझा दूँगी,
व्याकुलता की कम्पन को
हँस हँस कर समझा लूँगी ।

ज्यों निशि के उर में सौरभ,
मैं तुझ में छा जाऊँगी—
तुझ में अपने को खोकर
अपने को मैं पाऊँगी !

३१ अक्टूबर, १९३१

इन्दु के प्रति

इन्दु ! तुम्हें पाने की यह कामना कितनी प्रबल है—और कितनी निष्फल !

मैं जब तुम्हें पाने की कामना से तुम्हारी ओर हाथ बढ़ाता हूँ तो संसार कहता है ; चन्द्रमा के मुख पर कलंक है । अगर तू उसे पाना चाहता है तो कलंक को पकड़ ले । चन्द्रमा स्वयं उसके स्पष्टीकरण से भयभीत होकर तेरे हाथों में आजायगा ।

इन्दु ! मुझ से इस नीचता की आशा न रखना। मैं तुम्हारे कलंक से लाभ उठा कर तुम्हारे हृदय में स्थान पाना नहीं चाहता। अगर तुम्हारे मुख के उस कलुषित चिह्न की ओर बढ़ता हूँ तो केवल इसी इच्छा से कि उसे तुम्हारे मुख से हटा कर फिर तुम्हारे मुख के पवित्र सौन्दर्य्य को देख सकूँ।

तुम्हें पासकूँगा या नहीं, इसका निर्णय तो किसी सुदूर दिन हो ही जायगा, किन्तु तुम्हारे इस कलंक को दूर कर एक बार तुम्हारे मुख की छटा अवश्य देखूँगा।

इन्दु ! मेरी इस कामना को निष्फल न करना।

दिसम्बर, १९३०.

प्रवाह

सलिले ! तुझे इस बात का गर्व है कि तेरा प्रवाह इतना गम्भीर है, तू समझती है कि तूने अपने प्रतिद्वन्दियों पर विजय पाली। तू निश्चेष्ट होकर बह रही है, मानों

तुझे अब कोई चिन्ता नहीं है। किन्तु देख, तू जिन शिला-खण्डों से टकराती थी, वे ही अब चूर्णित होकर तेरे अंग प्रत्यंग में व्याप्त हैं। जिन विशालकाय शत्रुओं को तूने सगर्व अपने आगे से हटाया था, वे ही रेणु होकर तेरे अन्त:स्थल पर राज करते हैं।

निर्झर ! तू रोता है कि तेरा पथ बद्ध है, शिलाखण्ड क्षण क्षण पर तुझ से टक्कर लेते हैं। तेरा प्रवाह इतना निर्बल है कि एक पत्थर भी उसे रोक देता है ! देख, उसी अवरोह से; उसी अनन्त प्रवाह चेष्टा के कारण, तेरा हृदय कितना निर्मल है !

दिसम्बर, १९३०.

घट

कङ्कड़ से तू छील छील कर आहत कर दे।
बाँध गले में डोर कूप के जल में धर दे।
गीला कपड़ा रख मेरा मुख आवृत कर दे।
घर के किसी अँधेरे कोने में तू धर दे।

२२

जैसे चाहे आज मुझे पीड़ित करले तू।
जो जी आवे अत्याचार सभी कर ले तू।
कर लूँगा प्रतिशोध कभी पनिहारिन तुझ से,
नहीं शीघ्र तू द्वन्द्व युद्ध जीतेगी मुझ से !

निज ललाट पर रख मुझको जब जाएगी तू।
दख किसी को प्रान्तर में रुक जाएगी तू।
भाव उदित होंगे जाने क्या तेरे मन में,
सौदामिनि सी दौड़ जायगी तेरे तन में।

मन्दहसित, सव्रीड़ झुका लेगी तू माथा,
तब मैं कह डालूँगा तेरे उर की गाथा।
छलका जल गीला कर दूँगा तेरा अञ्चल,
अत्याचारों का तुझको दे दूँगा प्रतिफल !

दिसम्बर, १९३१.

वन्य-पुष्प की कामना

कहाँ देवों के उन्नत भाल—
कहाँ मेरा यह घोर लघुत्व ।
कहाँ सुरबाला के अवतंस—
कहाँ वन-कण्टक से बन्धुत्व !

कहाँ वन-पथ के सिकता-रेणु,
कहाँ मन्दिर पाटल में स्थान ?
कहाँ फूलों की नीरव आह—
कहाँ विधना का अमिट विधान!

चाह यदि हो सकती सम्पूर्ण,
यही रो उठते याचक प्राण—
मिटा लूँ यह जीवन की प्यास
कामना ही से पालूँ त्राण !

दिसम्बर, १९३१.

प्रवास में राखी

रक्षा ! हा ! इस बन्धन से ही रक्षित मैं रह पाता !
भूले जीवन की अनभूली स्मृतियों को न जगाता !
बिछुड़ गए जो बन्धु न उनके दर्शन की सुध करता !
दूर हुआ जो देश न उसकी याद कभी मन धरता !

रक्षा ! जाने इससे कितनी जाग उठीं पीड़ाएँ !
जाने क्या क्या मधुर स्वप्न, जाने क्या प्रेम-कथाएँ !
मातृभूमि-हित उत्सुकता से कीं वे पागल कृतियाँ,
शैशव की, यौवन की—बिखरे जीवन की वे स्मृतियाँ !

बन्दीगृह की प्राचीरें थीं सीमा मेरे नभ की—
उसमें भी आ छाईं जीवन-आशाएँ कब कब की !
विश्वक्षेत्र में अभिलाषाएँ मैंने थीं बिखराईं—
जाने कैसे रक्षाबन्धन में वे सब घिर आईं !

कठिन हथकड़ी जिस कर को करती थी केवल मण्डित,
वह ही इस कोमल बन्धन से क्यों हो उठता कम्पित ?
जाने क्या क्या रक्तकाण्ड देखे थे जिन आँखों से—
लख रक्षा को क्यों आँसू भर भर आते हैं उन में ?

बहिन, कभी इस बन्धन की दृढ़ता को जान सकोगी ?
'तरल तन्तु में बँधे विश्व' का क्या रहस्य समझोगी ?
केवल स्नेह-भाव से भेजी थी रक्षा यह तुम ने—
पर निस्सीम शून्य की संज्ञा आन जगाई इसने !
१९३१.

सम्भाव्य

सम्भव था रजनी रजनीकर की ज्योत्स्ना से रञ्जित होती,
सम्भव था परिमल मालति से लेकर यामिनि मण्डित होती !
सम्भव था तव आँखों में सुषमा निशि की आलोकित होती,
पर छाई अब्र घोर घटा, गिरते केवल शिशिराम्बुद मोती !

सम्भव था वन की वल्लरियाँ कोकिल-कलरव-कूजित होतीं,
राग-पराग-विहीना कलियाँ भ्रान्त-भ्रमर से पूजित होतीं !
सम्भव था मम जीवन में गायन की तानें विकसित होतीं,
पर निर्मम नीरस इस ऋतु में नीरव आशा की स्मित होतीं !

सम्भव था निस्सीम प्रणय यदि आँखों से आँखें मिल जातीं,
सम्भव था मेरी पीड़ा भी सुखमय विस्मृति में रल जाती—
सम्भव था उजड़े हृदयों में प्रेमकली भी फिर खिल आती ।
किन्तु कहाँ ? सम्भाव्य-स्मृति से सिहर सिहर उठती यह छाती !

अक्टूबर, १९३१.

तेरा गान

सुना मैंने जब तेरा गान--
हुए बेसुध से मेरे प्राण!
उठा कर अपनी टूटी बीन
लगा मैं भी सुलझाने तान।

काँप कर तूने कहा सरोष—
'नहीं है बुरे भले का ज्ञान ?
किया मेरी समाधि को भंग
मिला कर उसमें अपनी तान ?'

\+ \+ \+ \+

सिसकती अन्तर में है आह—
छलक आते आँखों में प्राण ।
सुझाऊँ कैसे तुझको भूल—
नहीं अब तक पाया मैं जान ।

हृदय में भरा हुआ क्यों गर्व
आँख में भरा हुआ क्यों मान?
उठाई मैंने थी वीणा—
बजाने को तेरा ही गान !

नवम्बर, १९३१.

रहस्य

मेरे उर में क्या अन्तर्हित है,
यदि यह जिज्ञासा हो,
दर्पण लेकर क्षण भर उस में
मुख अपना, प्रिय ! तुम लख लो !

यदि उसमें प्रतिबिम्बित हो मुख
सस्मित, सानुराग, अम्लान,
'प्रेम-स्निग्ध है मेरा उर भी,'
तत्क्षण तुम यह लेना जान !

यदि मुख पर सोती अवहेला
या रोती हो विकल व्यथा;
दयाभाव से झुक जाना, प्रिय !
समझ हृदय की करुण कथा !

मेरे उर में क्या अन्तर्हित है,
यदि यह जिज्ञासा हो,
दर्पण लेकर क्षण भर उसमें
मुख अपना, प्रिय ! तुम लख लो!

फ़रवरी, १९३२.

तेरा-मेरा

जैसा बिखर गिरे पत्तों का
विजन विपिन वीथी से प्रेम—
वैसा ही है तेरे-मेरे—
प्रणय-मार्ग का चित्रित नेम।

•

भग्न चाह की धूली सा मैं
चरणों में हूँ बिछ जाता—
किन्तु समीरण के हर झोंके
में तू हँसता उड़ जाता !

जैसा है बीते बसन्त से
जर्जर भौंरे का संयोग
वैसा ही है मेरा तुझ से—
... ...

'तू है मेरे लिए नहीं' यह
तत्त्व लिया है मैंने जान—
फिर भी हृदय तरङ्गों में है
भरा हुआ तेरा ही ध्यान !

नवम्बर, १९३१.

असीम प्रणय की तृष्णा

१

आशाहीना रजनी के अन्तर की चाहें
हिमकर-विरह-जनित वे भीषण आहें
जल जल कर जब बुझ जाती हैं,

जब दिनकर की ज्योत्स्ना से सहसा आलोकित
अभिसारिका उषा के मुख पर पुलकित
व्रीडा की लाली आती है,

भर देती हैं मेरा अन्तर्-
जाने क्या क्या इच्छाएं—
क्या अस्फुट, अव्यक्त, अनादि,
असीम प्रणय की तृष्णाएँ !

भूल मुझे जाती हैं अपने जीवन की सब कृतियां—
कविता, कला, विभा, प्रतिभा—रह जातीं फीकी स्मृतियाँ।
अब तक जो कुछ कर पाया हूँ, तृणवत् उड़ जाता है—
लघुता की संज्ञा का सागर उमड़ उमड़ आता है—

तुम, केवल तुम—दिव्य दीप्ति से,
भर जाते हो शिरा शिरा में,
तुम ही तन में, तुम ही मन में,
व्याप्त हुए ज्यों दामिनि घन में,
तुम, ज्यों धमनी में जीवनरस—तुम, ज्यों किरणों में आलोक !

२

क्या दूँ, देव! तुम्हारी इस विपुला विभुता को मैं उपहार ?
मैं, जो क्षुद्रों में भी क्षुद्र; तुम्हें, जो प्रभुता के आगार !

अपनी कविता ? भव की छोटी घटनाएं जिसका आधार ?
कैसे उस की परिमा में भर दूँ घहराता पारावार ?

अपने निर्मित चित्र ? वही जो असफलता के शव पर स्तूप ?
तेरे कल्पित छाया-अभिनय की छाया के भी प्रतिरूप !

अपनी जर्जर-वीणा के उलझे से तारों का संगीत ?
जिसमें प्रतिदिन क्षणभँगुर लय-बुद्‌बुद होते रहें प्रमीत !

३

विश्वदेव ! यदि एक बार,
पाकर तेरी दया अपार,
हो उन्मत्त, भुला संसार—
मैं ही विकलित, कम्पित होकर—
नश्वरता की संज्ञा खोकर—
हँसकर, गाकर, चुप हो, रोकर—
क्षणभर झंकृत हो—विलीन हो—होता तुझसे एकाकार !
पाकर तेरी दया अपार, हे विश्वनाथ ! बस एकबार !
मई, १९३२.

दृष्टि पथ से तुम जाते हो जब

तव ललाट की कुञ्चित अलकों,
तेरे ढरकीले आञ्चल को,
तेरे पावन चरण-कमल को,
छूकर धन्य भाग अपने को लोग मानते हैं सब के सब ।

म तो केवल तेरे पथ से
उड़ती रज की ढेरी भर के,
चूम चूम कर सञ्चय करके
रख भर लेता हूँ मरकत सा मैं अन्तर के कोषों में तत्र ।

पागल झञ्झा के प्रहार सा,
सान्ध्य रश्मियों के विहार सा,
सब कुछ ही यह चला जायगा—
इसी धूलि में अन्तिम आश्रय मर कर भी मैं पाऊँगा दत्र !

दिसम्बर, १९३१.

कहो कैसे मन को समझा लूँ

झंझा के द्रुत आघातों सा,
द्युति के तरलित उत्पातों सा,
था वह प्रणय तुम्हारा, प्रियतम !
फिर क्यों, फिर क्यों इच्छा होती, बद्ध इसे कर डालूँ ?

सान्ध्य रश्मियों की उच्छ्वासों,
ताराओं की कम्पित साँसों,
सा था मिलन तुम्हारा, प्रियतम !
फिर क्यों, फिर क्यों आँखें कहतीं, उर में इसे बसालूँ ?

उल्का-कुल की रज परिमल सी,
जलप्रपात के उत्थित जल सी,
थी वह करुणा दृष्टि तुम्हारी—
फिर क्यों, प्रियतम ! अन्तर रोता, युग युग उसको पालूँ ?
कहो कैसे मन को समझालूँ ?

मार्च, १९३२.

प्रश्नोत्तर

"प्रिय ! मेरे चरणों से पागल सी ये लहरें टकराती हैं;
मेरे सूने उर-निकुञ्ज में क्या कह कह कर जाती हैं ?"
"एक बार तेरे सुन्दर चरणों को जब वे छू लेती हैं—
'नहीं पुनः यह भाग्य मिलेगा' यही सोच वे रो देती हैं।"

"प्रिय! जब मेरे गात्रों में आकर छिप जाता है मलयानिल,
तब किस ध्वनि से मुखरित हो उठता है मेरा विलुलित आँचल?"
"तेरा कुसुम कलेवर पहले ही है उससे अधिक सुवासित—
यही देख वह ठण्ढी आहें भर लेता है होकर लज्जित!"

"प्रिय! जब तुझको मिलने आती हूँ मैं खेतों में से होकर,
तब क्यों सुमन नाच उठते हैं अपने तन की सुध-बुध खोकर?"
"तू इतनी सुन्दर होकर भी बनी हुई है इतनी भोली—
यही देख मन रञ्जित हो तुझ से करते हैं सुमन ठठोली!"

दिसम्बर, १९३१.

गान

वेणु से व्यथा स्रोत बहता है ।
लख कर उसको मानस-हंस नहीं वश में रहता है ।

मैं हूँ निर्बल, मान चुका हूँ तेरे आगे अपनी हार—
फिर क्यों तीखे तान-शल्य से निष्ठुर ! मुझे रहा है मार ?
अभिमानी हूँ, तो क्या ? जब भी वंशी की सुन पड़ी पुकार—
नत-मस्तक हो आ जाऊँगा करने को तेरी मनुहार !

विजयी ! तुझ को नहीं सोहती यह विजितों की अवहेला;
बन उदार क्षणभर मुझ को दे आत्मवञ्चना की वेला ।
छल लूँ अपने ही को कह कर 'मैंने भी प्रतिरोध किया—
नहीं पराजय है यह, मैंने स्वयं आत्मबलिदान दिया ।'

कहता तो हूँ, मान चुका हूँ
तेरे आगे अपनी हार—
नहीं और है ठौर कहीं मुझको
जाने को, रे अनुदार !

वेणु से व्यथा स्रोत बहता है ।
मानस के श्रुतिपुट में मेरा ही रहस्य कहता है ।

सितम्बर, १९३२.

अरे किस आशा से हो आए

किस के अभिसारी—किस के छल से हो गए लुभाए !

तटिनी अतुलित वेगवती है,
तरिणी सूखे पत्ते सी है;
इस हठ को साहस कहते हो—नाविक ! हो बौराए !
सारा वैभव झट खो जाए !

इसे न समझो स्नेहनिर्झरी,
या करुणा की मृदुल चर्चरी,
यह प्रलयंकर प्रेम-प्रवाह—नहीं अनुभव कुछ लाए।
अरे, किस आशा में हो आए ?

इस के अप्रतिहत प्रवाह में,
वारि-चक्र के उर अथाह में,
क्षणभर भी तुम को यदि आने दूँ तो क्या हो जाए !
सारा वैभव झट खो जाए !

भूल जाय दाक्षिण्य-जल्पना,
बिखरे प्रणय मरीचि-कल्पना,
छिन्न-भिन्न तरिणी हो मतवाले ! कुछ हाथ न आए !
अरे, किस आशा में हो आए ?

बने ठने हो, रहो दूर ही—
अपरीक्षित हो, रहो शूर ही—
क्यों पड़ते हो 'प्रेम विपथ' में उचितानुचित भुलाए;
सारा वैभव झट खो जाए!

बैठ कूल के दूर्वादल में,
मेरे निर्मल, शीतल जल में,
देख प्रतिच्छाया तुम अपनी रक्खो मान बनाए!
अरे किस आशा में हो आए?

सितम्बर, १९३२.

आराधना

देवी, मैं तुम्हारी पूजा के लिए तो आया हूँ, किन्तु अर्चना के लिए मेरे पास कुछ नहीं है।

मैं पूजा के लिए सुमन सञ्चय करने गया था। वन में बहुत मारा मारा फिरा, कितने ही वृक्षों की डालें तोड़ डालीं, कितनी लतिकाएँ उखाड़ फेंकीं, किन्तु तुम्हारी पूजा के योग्य एक भी फूल न मिला! मिला क्या? यह मेरे शरीर को छिन्न करने वाले सूखे हुए कांटे, और यह बहते हुए रक्तस्रोत की व्यथा!

देवी, पूजा के लिए मुझे बहुत खोजने पर भी फूल न मिले। किन्तु इस कारण मैं आराधना से वञ्चित नहीं रहूँगा। इन काँटों का मुकुट तुम्हारे शीश पर पहनाऊँगा, और फिर एक बार तुम्हारी ओर देखकर, तुम्हारी प्रतिमा अपने हृदय में बसा कर, चला जाऊँगा।

जिन फूलों से मैं तुम्हारे सुन्दर चरणों को ढाँप देता, वे मुझे मिले नहीं। अगर मिल भी जाते तो शायद सौरभहीन होते, शायद उसमें रङ्ग का अभाव होता। किन्तु जिन काँटों का मुकुट मैं तुम्हें पहनाऊँगा, वे मेरी एकाग्र उपासना से सुरभित हैं, और मेरे रक्त की लालिमा उन्हें सुन्दर बना रही है।

देवी, काँटे समझ कर मेरी इस तुच्छ भेंट को ठुकराना मत!

सितम्बर, १९३१.

नियति वज्र के मारे

स्वर्गङ्गा की महानता में,
अप्रतिहत गति से प्रतिकूल दिशा में,
चले जा रहे थे दो तारे ।

दोनों एकाएक परस्पर
आकर्षित हो, वर्द्धमान गति से निजपथ से हटकर
खिंचे चले आए बेचारे ।

शक्ति रहस्यमयी से प्रेरित होकर
प्रतिकूलता भुलाकर, निज स्वाभाविक गति को खोकर,
नियति वज्र के मारे ।

अति समीप दोनों आ पहुँचे,
अपनी गति से जनित तेज को नहीं सह सके,
पिघले—भस्म हो गए—क्षार हो गए सारे !

क्षार पुञ्ज भी निराकार उस शून्य व्योम में ही खोगया ।

व्यञ्जक उनके प्रबल प्रणय का
एकमात्र स्मृति चिह्न रहा क्या ?

—नीरव, प्रोज्ज्वल, एक क्षणिक विस्फोट मात्र !
उसके बाद ? वही स्वर्गंगा का प्रवाह
तिरस्कार से भरा—निश्चला अमा रात्रि !

× × ×

हम तुम भी; प्रतिकूल प्रकृतियाँ
विषम स्वभाव, और अति उत्कट रुचियाँ—
किस अज्ञात प्रेरणा से दोनों थे खिंचे चले आए—
कितना निकट चले आए !
किन्तु न अपने प्रणय-तेज को भी सह पाए—
शून्य में गए भुलाए !

जून, १९३२.

नहीं तेरे चरणों में—

कानन का सौन्दर्य्य लूट कर,
सुमन इकट्ठे करके;
धो सुरभित नीहार कणों से—
आँचल में मैं भरके,
देव! आऊँगा तेरे द्वार।
किन्तु नहीं तेरे चरणों में दूँगा वह उपहार!

खड़ा रहूँगा तेरे आगे
क्षणभर मैं चुपका सा,
लख कर मेरे कुसुम जगेगी—
तेरे उर में आशा,

देव! आऊँगा तेरे द्वार!
किन्तु नहीं तेरे चरणों में दूँगा कुछ उपहार!

तोड़ मरोड़ फूल अपने मैं
पथ में बिखराऊँगा;
पैरों से फिर कुचल उन्हें, मैं
पलट चला जाऊँगा।

देव! आऊँगा तेरे द्वार!
किन्तु नहीं तेरे चरणों में दूँगा वह उपहार!

क्यों ? मैं ने भी तेरे हाथों
सदा यही पाया है—
सदा मुझे जो प्रिय था उसको
तू ने ठुकराया है !
देव ! आऊँगा तेरे द्वार !
किन्तु नहीं तेरे चरणों में दूँगा वह उपहार !

शायद आँखें भर आएँ—
आँचल से मुख ढक लूँगा;
आँखों में, उर में, क्या है, यह
तुम्हें न दिखने दूँगा !
देव ! आऊँगा तेरे द्वार !
किन्तु नहीं तेरे चरणों में दूंगा कुछ उपहार !

अप्रैल, १९३२.

'——'

जीवन का मालिन्य आज क्यों मैं धो डालूँ ?
उर में संचित कलुषानिधि को क्यों खो डालूँ ?

कहाँ, कौन है जिस को है मेरी भी कुछ परवाह,
जिसके मन में मेरी कृतियाँ जगा सकें उत्साह ?

विश्वनगर की गलियों में खोए कुत्ते सा,
झंझा की प्रमत्त गति से उलझे पत्ते सा।

हटो, आज इस घृणापात्र को जाने भी दो टूट—
भव-बन्धन से साभिमान ही पा लेने दो छूट !

अक्टूबर, १९३२.

आज चला हूं !

पथिक ! क्यों व्यर्थ प्रयास उठाते हो ?
छूट चुकी जो नाव घाट से, क्यों अब फेर बुलाते हो ?
जब ऊषा की लाली फैली
कालिन्दी की लहरों पर,
जब तट का वञ्जुल वन झंकृत
हो उठता था ठहर ठहर ।

कामिनियाँ चल-चितवन से
तड़पा, कर देती थीं बेहाल,
उज्ज्वल गगरीसे कञ्चन किरणों
के फैल रहे थे जाल ।

जनाकीर्ण हो रंग विरंग विभूषित था कालिन्दी घाट,
तब से मैं था खड़ा जोहता तेरे ही आने की बाट।
नहीं अगर आए तो अब क्यों मुझ को फेर बुलाते हो?
पथिक! क्यों व्यर्थ प्रयास उठाते हो?

दिनभर की तपती किरणों में
कालिन्दी जब सोती थी,
व्यथित हृदय की हूक सरीखी
कल कल लहरें रोती थीं।

पर्ण-हीन वञ्जुल वन-सून
नीरव सा पड़ता था जान,
तब भी मेरे अन्तर्पट पर
जमा हुआ था तेरा ध्यान।

फटे हुए, बिखरे अरमानों सा लखता नभ का विस्तार,
तब भी मैं था खड़ा धैर्य्य से, ले चलने तुमको उस पार।
निष्फल करके मेरी साध, कहो क्यों फेर बुलाते हो
पथिक ! क्यों व्यर्थ प्रयास उठाते हो ?

सन्ध्या भी हो आई, लेकर
रवि को संग में लुप्त हुई,
ताराभूषित रजनी के अञ्चल
में पृथ्वी सुप्त हुई।

नीले नभ से नीला जल,
नीले प्रान्तर से नील कछार,
मिल कर एक हुए, नीलिम
आभा से दीप्त हुआ संसार।

उस भैरव नीलिम प्रवाह में खो सी गई तरी मेरी,
किन्तु लुटा अपने को भी मैं पा न सका कुछ सुध तेरी !
व्यर्थ मुझे रख बाट जोहता, अब क्यों फेर बुलाते हो ?
पथिक ! क्यों व्यर्थ प्रयास उठाते हो ?

२

दूर कूल पर सुन पड़ता है तेरा मृदु आह्वान—
'नाविक ! रे नाविक ! रुक जा, क्यों छोड़ चला निजस्थान !'

नहीं किन्तु मैं पलटूँगा नौका को जब उस ओर—
जल कर ही छोड़ा है मैंने कालिन्दी का छोर !

बहती है ?—बह जाने दूँगा ! हूँगा अन्तर्धान !
खो जावेगी ?—मैं अगाध में पाऊँगा निर्वाण !

तुम छूटोगे ?—अब क्या वश है ? तुम्हीं देर कर आए !
मैंने बाट जोहते आँसू अगणित बार गिराए !

३.

नहीं उपेक्षा इसे समझना ! क्रुद्ध न मुझ पर होना !
यह है केवल आशाभग्न हृदय का सूना रोना !

मैं क्या हूँ जो करूँ उपेक्षा ? मैं तो नाविक भर हूँ !
मुझ में क्या सत्ता है जो अनुकम्पा को हेय गिनूँ ?

तुम हो धनी, तुम्हारे दर्शन से कृतार्थ सब होते,
पाकर कृपा-दृष्टि भर ही वे पुलकित हो सुध खोते।

मैं बस बाट जोह कर ही तो बैठा रह जाता हूँ—
उतने में भी नहीं कामना पूरी कर पाता हूँ!

मैं यदि नाव बहा दूँ—तेरी सेवा में हैं और अनेक!
तुम यदि मुझे छोड़दो—विश्वप्रिय! मेरे हो बस तुम एक!

इसी लिए कहता हूँ इसको नहीं समझना देव! विरक्ति!
नहीं उपेक्षा है यह, केवल विवश-भाव की है अभिव्यक्ति!

४.

अब न पुकारो ! बह जाने दो
नैय्या को वारिधि की ओर !
याद दिला कर विफल प्रतीक्षा
की न करो अब व्यथा विभोर !

आजाते तुम—चिर-रजनी में
भी भर जाता दिव्य प्रकाश ।
छोटी नौका में ही पा जाता
मैं ईश्वरता का भास ।

नहीं समय पर आए—अब क्या ?
अब एकाकी जाने दो !
क्षणिक मिलन की क्षुद्र व्यथा को
चिर विरह में बुझाने दो !

सूना नभ—सूनी रजनी—सूना
तारागण का उल्लास—
सूनी नौका—सूना मैं—सूना
लहरों का नीरव हास !

सूने भव में तिरोभूत होने
मैं आज चला हूँ—
रोको मत ! तुम को खोकर मैं
भूला हुआ भला हूँ !

जून, १९३२.

तेरा स्थान

ऊषा अनागता पर प्राची
में जगमग तारा एकाकी;
चेत उठा है शिथिल समीरण,
मैं अनिमिष हो देख रहा हूँ
यह रचना भैरव छबिमान।

दूर कहीं पर, रेल कूकती,
पीपल में परभृता हूकती,
स्वर-तरङ्ग का यह सम्मिश्रण
जाने जगा जगा क्यों जाता
उर में विश्वस्नेह का ज्ञान!

वस्तुमात्र की सुन्दरता से,
जीवन की कोमल कविता से,
भरा छलकता मेरा अन्तर—
किन्तु विश्व की इस विपुला
आभा में कहीं न तेरा स्थान !

भुला भुला देती यह माया
कहाँ तुझे मैं हूँ खो आया
यदपि सोचता बड़े यत्न से;
बिखर बिखर जाते विचार हैं
पाकर यह आकाश महान !

नवम्बर, १९३१.

गान

विफले ! विश्व क्षेत्र में खोजा !
पुञ्जीभूते प्रणय वेदने !
आज विस्मृता हो जा !

क्या है प्रेम ? घनीभूता इच्छाओं की ज्वाला है !
क्या है विरह ? प्रेम की बुझती राख भरा प्याला है !
तू ? जाने किस किस जीवन के विच्छेदों की पीड़ा—
नभ के कोने कोने में छा त्रीज व्यथा का बोजा !
विफले ! विश्वक्षेत्र में खोजा !

नाम प्रणय—पर अन्तस्तल में फूट जगाने वाली !
एकाकिनि—पर जग भर को उद्भ्रान्त नचाने वाली !
अरी, हृदय की तृषित-हूक—उन्मत वासना-हाला !
क्यों उठती है सिहर सिहर, आ, मम प्राणों में सोजा !
विफले ! विश्व क्षेत्र में खोजा !
पुञ्जीभूते प्रणय वेदने !
आज विस्मृता होजा !

जुलाई, १९३२.

विदा

विदा ! विदा ! इस विकल विश्व से विदा ले चुका !
अपने इस अति व्यस्त जगत से जुदा हो चुका !

देख रहा हूँ मुड़ मुड़ कर—यह मोह नहीं है,
नहीं हृदय की विकल निबलता फूट रही है

सोच रहा हूँ, कल जिसको खोजते स्वयं खो जाना है—
उस निर्वेद, अतीन्द्रिय जग में मुझे क्या क्या भुलाना है !

नवम्बर, १९३२.

गीति

माँझी, मत हो अधिक अधीर !

साँझ हुई, सब ओर निशा ने फैलाया निज-चीर,
नभ से अञ्जन बरस रहा है नहीं दीखता तीर ।
किन्तु सुनो ! मुग्धा वधुओं के चरणों का गम्भीर—
किङ्किण नूपुर शब्द लिए आता है मन्द समीर ।
थोड़ी देर प्रतीक्षा कर ले साहस से हे वीर—
छोड़ उन्हें क्या तटिनी-तट पर चल देगा बेपीर ?

माँझी, मत हो अधिक अधीर !

दिसम्बर, १९३१.

गीति

छोड़ दे माँझी, तू पतवार !

आती है दुकूल से मृदुल किसी के नूपुर की झङ्कार,
काँप काँप कर 'ठहरो,ठहरो !' की करती सी करुण पुकार।
किन्तु अँधेरे में मलिना सी देख चिताएँ हैं उस पार,
मानों वन में ताण्डव करती मानव की पशुता साकार।
छोड़ दे, माँझी तू पतवार !

जाना बहुत दूर है, पागल सी घहराती है जलधार,
झूम झूम कर मत्त प्रभञ्जन करता है भय का सञ्चार,
पर मीलित कर आँखों को तू तज दे जीवन के आधार—
ऊषा नभ में नाच रही होगी जब पहुँचेंगे उस पार !
छोड़ दे माँझी, तू पतवार !

नवम्बर, १९३१.

गान

दूर है वह भविष्य, अति दूर !
भाग्यरे, निष्ठुर क्रूर !

चाह हृदय में भरी हुई है उसको पालूँ,
ऐक्यभाव में अपना मैं पार्थक्य मिटालूँ,
अहंभाव पर वार प्रेम का
बैठ जाय भरपूर !

आशा वह ! वास्तव में क्या है ? वह मरीचिका !
प्राणों को तड़पाने वाली, वह विभीषिका !
वश होता तो माया का कर
देता शीशा चूर !

पिघलेंगे कब पत्थर ? लोहा पानी होगा ?
जीवन की इस निविडरात्रि में दिन भी होगा ?
अन्तर्पट पर कोई लिख लिख
जाता 'अरे ज़रूर !'

क्या है ? क्रूर काल की है गति तो भी क्या है ?
मैंने भी तो आज मृत्यु को साथ लिया है !
प्राणों की है होड़ देखलें—
कौन निकलता शूर !

सितम्बर, १९३२.

प्राण क्या हुआ प्रमाद ?

कैसा यह मालिन्य वदन पर—आँखों में अवसाद—
उर में आश्रित किसकी पीड़ा—कसक-भरी सी याद !
प्राण, क्या हुआ प्रमाद ?

भाव-लोक की किस नगरी में विचरण करते ?
किस दिवाङ्गना की चितवन को उर में धरते ?
मर कर जीते, जीकर पुनः पुनः हो मरते !
मूढ़ रे, उत्सुक सुनने को किस स्वर्वीणा का नाद !
प्राण, क्या हुआ प्रमाद !

देखो, सान्ध्य सूर्य्य की किरणें जला रहीं जगती को—
लालिम मदिरा के सागर में डुबा रहीं जगती को—
उन्मद, उद्भ्रम, बन्धमुक्त कर भुला रहीं जगती को—
पागल, कानों में कहतीं हैं एक दिव्य संवाद—
प्राण, क्या हुआ प्रमाद !

'भूले कहाँ ? कहाँ पाओगे स्वप्न-लोक का सार ?
कहाँ अप्सराओं की आँखें, मन्दाकिनी कछार ?
खोलो, खोलो आँखें, देखो खोल हृदय के द्वार !
पड़ा हुआ है पैरों में ही सञ्चित सब आह्लाद !
प्राण, क्या हुआ प्रमाद !

अरे, दूर पर आँख लगाए, भूले अपना स्वत्त्व !
अपनाने के इच्छुक ! लोभी ! कर दो दूर ममत्त्व !
पैरों पड़ी लता को लखकर सीखो जीवन तत्त्व !
मर कर पालो रे अमरत्त्व !

खो दो अपने अपनेपन को, आज मिटालो साध !
प्राण, क्या हुआ प्रमाद !

सितम्बर, १९३२.

पूर्व स्मृति

पहले भी मैं इसी राह से
जाकर फिर फिर हूँ आया—
किन्तु झलकती थी इस में तब
मधु की मन-मोहक माया !

हरित-छटामय-विटप-राजि पर
विलुलित थे पलाश के फूल—
मादकता सी भरी हुई थी
मलयानिल में परिमल धूल !

पागल सी भटकी फिरती थी
वन में भौंरों की गुञ्जार,
मानों पुष्पों से कहती हो,
'मधुमय है मधु का संसार !'

कुञ्जों में तू छिपती फिरती—
करती सरिता सी कल्लोल,
व्यंग्यभाव से मुझ से कहती
'क्या दोगे फूलों का मोल ?'

हँस हँस कर तू थी खिल जाती
सुनकर मेरी करुण पुकार—
'मायाविनि ! मरीचिका है यह,
या छलना, या तेरा प्यार ?

कई बार मैं इसी राह से
जाकर फिर फिर हूँ आया—
किन्तु झलकती थी इसमें तब
मधु की मन-मोहक माया !

चला जा रहा हूँ इस पथ से—
ले निज मूक व्यथा उद्भ्रान्त,
किन्तु आज छाया है इस पर
नीरव सा नीरस एकान्त !

पुष्पच्छटा-विहीन खड़े—
रोते से लखते हैं तरुवर—
पीड़ा की उच्छ्वासों सी
कँपती हैं शाखाएँ सरसर !

बीता मधु, भूला मधु गायन
बिखरी भौंरों की गुञ्जार;
दबा हुआ सूने में फिरता
वन-विहगों का हाहाकार !

अन्तस्तल में मीठा मीठा
गूँज रहा तेरा उपहास—
मानस-मरु में कहाँ छिपाऊँ
मैं अपने प्राणों की प्यास ?

कई बार मैं इसी राह से
जाकर फिर फिर हूँ आया—
किन्तु कहाँ इस में पाऊँ
वह मधु की मन-मोहक माया !

नवम्बर, १९३१.

शिशिर के प्रति

मेरे प्राण सखा हो बस तुम एक, शिशिर !

छाई रहे चतुर्दिक् शीतल छाया,
रोमाञ्चित, ईषत्कम्पित होती रहे क्षीण यह काया;
ऊपर नील गगन में, धवल धवल, कुछ फटे फटे से,
अपने ही आन्तरिक क्षोभ से सकुचे, कटे कटे से,
जीवन में उद्देश्यहीन सी गति से आगे बढ़ते बादल—
घिरे रहें बादल, पर बरस न पाएँ—
मेरे भी—मैं रहूँ नियन्त्रित, मूक, यदपि आँखें भर आएँ।
अरे ओ मेरे प्राण सखा, शिशिर !

सूनी सूनी, खड़ी ठिठुरती, पर्णहीन वृक्षों की पाँत,
सिर पर काली शाखें मानों झुलस गए हों गात;
कहीं न फूल न पत्ते, अंकुर तक भी दीख न पाएँ—
नहीं सिद्धि के सुखद फलों की स्मृतियाँ हमें चिढ़ाएँ
सम-दुःखी ओ विधुर शिशिर !

केवल दूर खड़ी, सकुचाती, कुछ कुछ डरी हुई सी—
आगे बढ़ती, फिर फिर रुक रुक जाती, सहम गई सी—
वह—भावी वसन्त की आशा—वह, तेरी जीवन आधार!
सखे ! सदा वह दूर रहेगी—निष्कलंक वह आभा,
हम तुम उसको छू न सकेंगे—हम तुम—जिनके
कर कलुषित हैं अन्तर्दाह धुएँ से !
चाहते ही हम रह जाएँगे, नहीं कभी पाएंगे।

फिर भी—वैसी ही मेरे प्राणों में रहे अनबुझी आशा,
झिपती चाहे जावे, किन्तु न बुझने पावे !
इन प्राणों में; जो होते ही रहे सदा से विफल-प्रयास—
कभी न कुछ भी कर पाए—रोने तक को समझे आयास।

केवल भरे रहे, अस्फुट आकांक्षाओं से—
भरे रहे—बस ! भरे रहे, हा फूट न पाए !
यह साकांक्ष विफलता ही
रहे धुरा उस मैत्री की
जिस पर घूम रहे हैं प्राण, पाकर साथ तुम्हार
अरे, समदु:खी, सहभोगी, ओ वञ्चित प्राण सखा,
शिशिर !

सितम्बर, १९३२.

बैठी हो कविता रचने !

मूढ़े करले मृदुल लेखिनी !
आज लगी हो क्या करने !
किसके चिन्तन में विमुग्ध हो
बैठी हो कविता रचने !

हम तो हैं कुरूप, पागल से
मारे मारे फिरते हैं,
सुन्दरता की रज ले ले
मानस कोषों में भरते हैं।

संचित जब कुछ हो जाती है,
फूले नहीं समाते हैं—
उसके कण कण को बिखरा
कविता, मैं कवि कहलाते हैं।

तुम—तुम तो हो स्वयं विश्व के
सुन्दरतासागर की सार—
किसकी आभा की धूली से
तुम भरती हो हृदयागार?

मूढ़े! अपने से भी सुन्दर
किसका चिन्तन करती हो?
किसके कीर्त्तन में बैठी
कविता चेष्टा तुम करती हो?

२५ दिसम्बर १९३१

भूल

जब मैं लोगों को सौन्दर्य की चर्चा करते सुनता हूँ तो मेरा हृदय विस्मय से परिप्लावित हो जाता है। मैं तेरा स्मरण कर सोचने लगता हूँ, क्या तुझसे भी अधिक सुन्दर कोई है ?

इस विस्मय में मैं यह पूछना भूल जाता हूँ कि क्या मुझसे अधिक कुरूप भी कोई है !

दिसम्बर, १९३०.

पहेली

हृदय पूछता है—प्रेम क्या है ?

मन उत्तर देता है—प्रेम माया जाल है।

हृदय पूछता है—यह कैसा जाल है जिसमें मक्खी के साथ मकड़ी भी बद्ध हो जाती है ?

मन हँस कर कहता है—जिस दिन तुम बद्ध होगे उसी दिन इसका उत्तर पा सकोगे !

दिसम्बर, १९३१.

स्नेहलता

उसकी स्मृति मात्र से हृदय में अभूत स्फूर्त्ति का संचालन हो आता है। वह स्वयं निर्जीव है, किन्तु दूसरों का पोषण करती है। स्वयं निर्बल है, किन्तु दूसरों को शक्ति प्रदान करती है।

उसकी जड़ों ने कोमल हृदय खण्ड में स्थान पाया था, उसका सौरभ शरीर में व्याप्त था। अश्रु निर्झर के जल से उसका सिंचन हुआ था। उसके सुकोमल अंकुर प्राण वायु के झोंके से कम्पायमान हो रहे थे।

किन्तु उस तरुण लतिका को विद्वेष झंझा न उखेड़ सका, कलह की दुर्गन्ध उसके सौरभ को न दबा सकी, न मृत्यु की प्रलय लहरी उसे डुबा सकी।

वह स्नेहलता थी!

दिसम्बर, १९३०.

नियति

हृदय का स्वातन्त्र्य प्राप्त करने के लिए शरीर को बद्ध करना पड़ता है।

जब भ्रमर कमलकली में बँध जाता है तब मत्त होकर नाचने लगता है।

प्रिय के अवसान में ही प्रेम का पूर्ण विकास होता है।

कमलकली जब झड़ जाती है, तब ही उसमें से भ्रमर का प्रेम संगीत प्रतिध्वनित होता है।

प्रदोषा

प्रदोषा की शान्त और नीरव भव्यता से मुग्ध होकर दार्शनिक बोला, 'ईश्वर कितना सर्वज्ञ है ! दिवस के तुमुल और श्रम के बाद कितनी सुखद है यह सन्ध्या-कालीन शान्ति !'

निश्चल और तरल वातावरण को चीरती हुई, दार्शनिक का ध्यान भंग करती हुई, न जाने कहाँ से आई चक्रवाकी की करुण पुकार—'प्रियतम, तुम कहाँ हो ?'

अक्टूबर, १९३२.

प्रेम-रहस्य

तुम्हारे हृदय में अन्धकार क्यों है ?

तुम दीपक के पुजारी हो, दीपशिखा के लिए तुम्हारे हृदय में आदर का स्थान नहीं है, इसी लिए वहाँ अन्धकार है।

प्रेम तुम्हें क्यों नहीं प्राप्त होता ?

तुम प्रेम को भूलकर प्रिय की आराधना में दत्तचित्त हो, इसीलिए तुम्हें प्रेम नहीं प्राप्त होता।

दिसम्बर, १९३०.

प्रेम-निर्झर

प्रेम ! प्रेम ! सारा संसार चिल्ला रहा है, प्रेम ! जिधर भी देखता हूँ, उधर ही तृषित आह उठ रही है, प्रेम !

पागलों की तरह लोग भटके फिरते हैं, रो रो कर कहते हैं 'प्रेम की तलाश में हैं ! प्रेम कहाँ है ?' कभी कोई गिर पड़ता है तो शेष लम्बी साँस लेकर कहते हैं, 'प्रेम-पथ पर मर गया है, इसके धन्यभाग हैं !' फिर उसी प्रकार वे अपनी खोज में आगे बढ़ जाते हैं ।

सुना है प्रेम कहीं नहीं मिलता ।

हा ! मैं यहाँ बैठा रो रहा हूँ, 'प्रेम का निर्झर मेरे पास है, आओ, अपनी तृषा बुझाओ !' किन्तु वे मेरी ओर उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं, फिर मेरे हृदय को ठुकरा कर चले जाते हैं !

दिसम्बर, १९३०.

फूल

जब दीपक पर मँडराते हुए पतंगे उसकी शिखा में कूद कर अपने प्राण खो देते हैं, तब लोग कहते हैं 'अगर वे मूर्ख हैं, और उन्मादवश अपने आपको भस्म कर देते हैं, तो इसमें बिचारे दीप का क्या दोष ?'

किन्तु जब फूल मुरझाता है, तब कोई उससे समवेदना नहीं करता । सब यही कहते हैं, फूल को भ्रमरों की कुप्रवृत्ति से क्या प्रयोजन ? फूल का कर्त्तव्य केवल इतना ही है कि प्रस्फुटित होकर अपना सौरभ बिखरा दे—उसे कौन पाता है, इसकी आलोचना करने का उसे अधिकार नहीं है ।'

सितम्बर, १९३२.

कला का गौरव

स्त्रियाँ कहती हैं, हमने तुम्हारा निर्म्माण किया है, हम तुम्हारी अपेक्षा अधिक आदरणीया हैं।

पुरुष उत्तर देते हैं, चित्र का आदर चित्रकार से अधिक होता है, यद्यपि चित्र का निर्म्माता वही होता है। हमारा ही गौरव अधिक है।

दिसम्बर, १९३०.

बहुरूपिया

संन्यासी कहता है, संसार का सार त्याग में ही है। त्याग ही धर्म है, त्याग ही ध्येय है।

पुजारी कहता है, प्रतिमा की उपासना में ही हमारा निस्तार है, उसे छोड़कर हमें शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती।

युवक कहता है, प्रेम के बिना संसार फीका है। जिसने प्रेम नहीं किया उसका जीवन ही निष्फल है।

वृद्ध कहता है, यह प्रेम मरीचिका है। इस स्वप्न को छोड़कर हमें संयम की ओर प्रवृत्त होना चाहिए।

गृहस्थ कहता है, प्रवृत्ति-पथ निवृत्त-पथ से उत्तम है, हमें उसी का अनुगमन करसा चाहिये। कर्म ही हमारा एक मात्र आधार है।

सब के हृदय में बसा हुआ स्वार्थ हँसता है और कहता है, लोग मेरे इतने रूपों की उपासना करते हैं, किन्तु फिर भी मुझे कोई नहीं पहचान पाया !

दिसम्बर, १९३०

लक्षण

आँसू से भरने पर आँखें
और चमकने लगती हैं।
सुरभित हो उठता समीर
जब कलियाँ झड़ने लगती हैं।

बढ़ जाता है सीमाओं से
जब तेरा यह मादक हास,
समझ तुरत जाता हूँ मैं—
'अब आया समय विदा का पास।'

दिसम्बर, १९३१.

अनुरोध

अभी नहीं—क्षण भर रुक जाओ—
महफिल के सुनने वालो !
मत वञ्चित हो कोसो, हे
संगीत सुमन चुनने वालो !

नहीं मूक होगी यह वाणी—भंग न होगी तान—
टूट गई यदि वीणा तो भी झनक उठेंगे प्राण !

दिसम्बर, १९३२.

अपना गान

इसी में ऊषा का अनुराग,
इसी में भरी दिवस की श्रान्ति,
इसी में रवि की सान्ध्यमयूख
इसी में रजनी की उद्भ्रान्ति;

आर्द्र से तारों की कँपकँपी,
व्योमगंगा का शान्त प्रवाह,
इसी में मेघों की गर्जना,
इसी में तरलित विद्युद्दाह;

कुसुम का रस परिपूरित हृदय,
मधुप का लोलुपतामय स्पर्श,
इसी में काँटों का काठिन्य,
इसी में स्फुट-कलियों का हर्ष;

इसी में बिखरा स्वर्ण पराग,
इसी में सुरभित मन्द बतास,
ऊर्म्मिमाला का पागल नृत्य,
ओस की बूँदों का उल्लास;

विरहिणी चकवी की क्रन्दना,
परभृता-भाषित-कोमल तान,
इसी में अवहेला की टीस,
इसी में प्रिय का प्रिय आह्वान;

भरी आँखों की करुणा भीख,
रिक्त हाथों से अञ्जलि दान,
पूर्ण में सूने की अनुभूति—
शून्य में स्वप्नों का निर्म्माण;

इसी में तेरा क्रूर प्रहार,
इसी में स्नेह सुधा का दान—
कहूँ इस को जीवन इतिहास
या कहूँ केवल अपना गान ?

दिसम्बर, १९३१.

सान्त्वना

जलनिधि की लहरों में छिटके
वीणा के मृदु स्वर सी क्षीण,
छलक छलक कर हो जाती है
प्रेमकथा सूने में लीन !

पर औरों से भी होती है
यह जीवन वीथी की भूल—
औरों के भी तो ठुकराए—
जाते हैं पूजा के फूल !

\+ + +

गोधूली की नीरवता में
चक्रवाक के रोने सा,
सूनी विटपरात्रि में धुखती
विरह वेदना खोने सा;

विरला ही समझे जिसकी
पीड़ा पूरित उच्छृङ्खल तान,
ऐसा है अव्यक्त प्यास से
भरा हुआ मेरा यह गान !

फिर भी रसिकों की रसना
इसमें इस निधि को भाँपेगी,
उजड़े से मानस कुञ्जों में
प्रतिध्वनि इसकी काँपेगी !

नवम्बर १९३१.

मलयानिल के प्रति

अरे ओ मालयानिल के वार !
मुझे मत छेड़ मुझे मत मार !

१२१

नहीं नवल कलिका हूँ मैं तेरे सौरभ की प्यासी;
मुरझाया भी फूल नहीं हूँ चुम्बन का अभिलाषी।
जो उस से जी जाता—
डाल पर फिर इठलाता।

मैं हूँ—क्या हूँ ? बीती मधुऋतु का हूँ एक भगोड़ा—
अपने ही पर स्मारक, जिसने जीवन-मोह न छोड़ा।
सूख गया जो, झुलस गया जो,
गिरते गिरते उलझ गया जो—

व्यथा सूत्र में; उसी सहारे अब तक अड़ा हुआ हूँ,
आज अंकुरित नवयुग में अनमिल सा खड़ा हुआ हूँ।
चोटें सभी सहे जाता हूँ—
नहीं डाल से झड़ पाता हूँ !

तुझ से ताड़ित होकर मैं तो केवल झड़ जाऊँगा,
जलन हृदय की मिट जाएगी, दुःख से निबटाऊँगा।
भव भी लुट जाएगा—
हाथ न कुछ आएगा !

धूलि कणों में मिल कर ही तो मैं विराट होऊँगा—
विश्वनाट्य का अभिनेता हो, क्षुद्रभाव खोऊँगा।
नष्ट होगी नश्वरता ही तो !

पर ये अलबेली ! मैं ही हूँ इनका जीवन दर्पण—
इनके खिलते यौवन पर करता हूँ अञ्जलि अर्पण—
नहीं दिखाता हूँ मैं छाया
(सच्ची है विधना की माया!)

मेरा हीन पना ही उनकी सुन्दरता का मापक
है मुग्धाओं की अतुलित उस रूपराशि का ज्ञापक
यही है प्रकृति तत्त्व विलक्षण
मृत्यु में जीवन वैभव दर्शन !

क्या है यद्यपि मैं हूँ बस निस्सीम शून्य की मूर्ति,
लक्ष्य मुझी में उनके अप्रस्फुट जीवन की पूर्ति !
बूँद में उलझा पारावार !
अरे ओ निठुर मुझे मत मार !

सितम्बर, १९३१.

मूक प्रार्थना

पिता, मेरे शरीर में अब शक्ति नहीं रही, मेरे हृदय में उल्लास भी नहीं रहा। किन्तु फिर भी तुमसे कुछ माँगने की इच्छा नहीं है। मैंने अनेकों पाप किए हैं, अनेकों व्यसनों का शिकार हुआ हूँ, इसलिए शायद तुम मेरी प्रार्थना न भी सुनो।

मैं तुम्हें अपनी व्यथा सुनाना भी नहीं चाहता। मेरे शरीर पर चिथड़े रह गए हैं, मेरा हृदय रो रहा है, किन्तु इस घनघोर वर्षा में मैं निर्भीक होकर चला जारहा हूँ। मेरे लिए यही उचित है कि तुम मुझे कष्ट दो। मैं उन्हें सह लूँगा क्योंकि वे मेरी कुवृत्तियों के फल हैं।

किन्तु पिता, इन दीन निर्बल फूलों ने, इन तरुण लतिकाओं ने, जिनके कलेवर व्यथा से काँप रहे हैं, जिनके अंकुर और कलियाँ निर्निमेष नेत्रों से तुम्हारी ओर देख रहे हैं, इन की आह तो सुन लो, इन का दुख तो दूर कर दो!

मैं तो तुम से कुछ न माँगूगा, किन्तु क्या इन दीनों की मूक प्रार्थना भी न सुनोगे?

दिसम्बर, १९३०.

प्रवृत्ति-पथ

तुम्हारी नगरी जल रही है, तुम खड़े देख रहे हो। किस आशा में खड़े हो ?

वर्षा ? वर्षा इस आग को नहीं बुझा सकती। और वर्षा है भी कहाँ ? इस ज्वलन्त ताप के आगे मेघ कहाँ टिक सकेंगे ? क्षण भर ही में वे वाष्प होकर उड़ जायेंगे, आग उसी प्रकार धधकती ही रह जायगी !

वह ? वह दुःस्वप्न है, दुराशा है ! जिसे तुम कृष्ण वर्ण मेघ समझ कर प्रसन्न हो रहे हो, जिससे तुम घोर वृष्टि की आशा कर हो, वह मेघ नहीं है, वह तुम्हारी जलती नगरी से उठता हुआ काला धुआँ है। उसमें बिजली की चमक नहीं, बल्कि दीनों की आह प्रदीप्त हो रही है, शीतल जलकण नहीं, बल्कि उत्तप्त अश्रुकणों का प्रवाह थमा हुआ है !

इस व्यर्थ आशा को छोड़ो, उठो, प्रवृत्तिपथ पर आओ !

दिसम्बर, १९३०.

चेतावनी

तुम गौर वर्ण हो, हम श्यामल हैं। किन्तु इस वर्ण भेद से गर्वान्वित न होना।

१२९.

यह तो मानते हैं कि श्वेत बादल काले बादलों से उच्चतर होते हैं। किन्तु क्या तुमने कभी यह भी सोचा है कि वायु के हलके से झोंके से भी श्वेत बादल अस्त-व्यस्त हो जाते हैं क्योंकि उनमें जल का अभाव है।

ये काले बादल सौन्दर्य्य विहीन हैं, बेडौल भी हैं, किन्तु इनमें स्थिरता तो है, ये वायु के आगे छिन्न तो नहीं होते !

तुम वर्णश्रेष्ठ तो हो, किन्तु स्मरण रखना, इस श्यामलता की ओट में भीषण विद्युज्ज्योति है, इस स्थूलता के पीछे प्रलय का घोर प्रवाह छिपा हुआ है !

गौरतनु, सोचो और सँभलो !

दिसम्बर, १९३०.

आतङ्क

मैं बंदी हूँ, किन्तु मेरे बन्धनों की झंकार मानों कह रही है, 'तू स्वतन्त्र है, यह बन्धन तेरी स्वतन्त्रता के साक्षी हैं।'

तुम स्वतन्त्र हो, किन्तु भयभीत होकर कह रहे हो, 'इसे बन्दी रखे बिना हमारा निस्तार नहीं है!'

दिसम्बर, १९३०.

आशा

बन्दी हूँ, एकमात्र आशा मृत्यु की आशा है।

किन्तु फिर भी, न जाने क्यों, हृदय गा रहा है। मन कहता है, मूर्ख, अपने कर्मों का प्रायश्चित कर, जी भर कर रो तो ले! पर हृदय में एक उद्दाम उल्लास हिलोरें ले रहा है! आँखों में आँसू छलछला रहे हैं, किन्तु एक अननुभूत आह्लाद से उनकी ज्योति बढ़ रही है!

उल्लास ! आह्लाद ! आशा ! विडम्बना है ! किन्तु फिर भी यह आशा—!

कामना रोती है—तूने सब कुछ खो दिया, तेरा कोई आधार नहीं रहा। अब किस लिए जीता है ? इस निरर्थक आशा को छोड़ !

भावना कहती है—अभी सब कुछ नहीं खोया, अभी एक आधार शेष है—यही आशा !

दिसम्बर १९३०.

चाह

नाथ, मैं उन्मुक्त होना नहीं चाहता। मुझे अपने पैरों में पड़ी श्रृंखलाएँ तोड़ते देख कर लोग कहते हैं, यह वीर है अपने बन्धनों को काट रहा है। किन्तु नाथ, तुम इस भूल में न पड़ना। मैं उन्मुक्त होना नहीं चाहता, केवल इन अस्थायी बन्धनों को काट कर ऐसी श्रृंखला में बँधना चाहता हूँ जिस से कभी भी उद्धार न हो सके!

अप्रैल, १९३१.

कहाँ थे ?

आज, जब मैं बन्दी हूँ, जब देने के लिए मेरे पास अपनी व्यथा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, तब तुम आए हो—मुझ से बलि माँगने !

जब मेरे बन्धन नहीं थे, जब मेरा हृदय आनन्द से भरा हुआ था, तब तुमने मुझे उन्हीं साधारण व्यक्तियों में से समझा जिनसे तुम्हें कुछ आशा नहीं थी। फिर आज मुझे इस निर्धनता का, दैन्य का, बोध कराने क्यों आये हो ?

तुम मुझसे स्वातन्त्र्य का मार्ग पूछते हो—उसी स्वातन्त्र्य का जिसे मैं स्वयं खो चुका हूँ। बताओ, जब मैं विमुक्त था, जब मेरे पास सत्ता थी, उस समय तुम कहाँ थे ?

अप्रैल, १९३१.

विकल्प

वेदी तेरी पर माँ, हम क्या शीश नवाएँ ?
तेरे चरणों पर माँ, हम क्या फूल चढ़ाएँ ?
हाथों में है खड्ग हमारे,
लोह मुकुट है सिर पर—
पूजा को ठहरें या समर क्षेत्र में जाएँ ?

मन्दिर तेरे में माँ, हम क्या दीप जगाएँ ?
कैसे तेरी प्रतिमा की हम ज्योति बढ़ाएँ ?
शत्रु रक्त की प्यासी है यह
ढाल हमारी दीपक—
आरति को ठहरें या रण प्राङ्गण में जाएँ ?

सितम्बर, १९३१.

क्रान्ति पथे

तोड़ो मृदुल वल्लकी के ये
सिसक सिसक रोते से तार,
दूर करो संगीत कुञ्ज से
कृत्रिम फूलों का शृङ्गार !

भूलो कोमल, स्फीत स्नेह-स्वर
भूलो क्रीड़ा का व्यापार,
हृदय पटल से आज मिटा दो
स्मृतियों का अभिनय-आगार !

भैरव शंख नाद की गूँज
फिर फिर वीरोचित ललकार,
मुरझाए हृदयों में फिर से उठे
गगन भेदी हुङ्कार !

धधक उठे अन्तस्तल में फिर
क्रान्ति गीतिका की झंकार—
विह्वल, विकल, विवश, पागल
हो नाच उठे उन्मद संसार !

दीप्त हो उठे उरस्थली में
आशा की ज्वाला साकार,
नस नस में उद्दण्ड हो उठे
नव यौवन रस का सञ्चार !

तोड़ो वाद्य, छोड़ दो गायन,
तज दो सकरुण हाहाकार;
आगे है अब युद्ध-क्षेत्र—फिर,
उसके आगे—कारागार !

देहली जेल
१८ फरवरी, १९३२.

प्रस्थान

रणक्षेत्र जाने से पहले
सैनिक ! जी भर रो लो !
अन्तर की कातरता को
आँखों के जल से धो लो !

मत ले जाओ साथ जली
पीड़ा की सूनी साँसें,
मत पैरों का बोझ बढ़ाओ
लेकर दबी उसाँसें !

वहाँ ? वहाँ पर केवल तुमको
लड़ लड़ मरना होगा,
गिरते भी औरों के पथ से
हट कर पड़ना होगा !

नहीं मिलेगा समय वहाँ
यादें जीवित करने को,
नहीं निमिष भर भी पाओगे
हृदय दीप्त करने को !

एक लपेट—धधकती ज्वाला—
धूम्रकेतु फिर काला;
शोणित, स्वेद, कीच से भर
जायेगा जीवन प्याला !

अभी, अभी पावन बूँदों से
हृदय पटल को धो लो !
तोड़ो सेतुबन्ध आँखों के
सैनिक ! जी भर रो लो !

देहली जेल
२३ अप्रैल, १९३२.

पराजय गान

विजय? विजेता! हा! मैं तो हूँ
स्वयं पराजित हो आया!
जग में आदर पाने के
अधिकार सभी मैं खो आया।

नहीं शत्रु को शोणितसिक्त—
धराशायी कर आया हूँ,
नहीं छीन कर संकुल रण में
शत्रु-पताका लाया हूँ।

नहीं सुनाने आया हूँ मैं—
वीरों की वीरत्व कथा;
होकर विजित, विमुख हो रण से
घर आया हूँ यथा तथा।

गया कभी था अखिल विश्व को
जीत स्वयं शासन करने—
गर्व पूर्ण उन्नत ललाट पर
भैरव शोणतिलक धरने;

समरभूमि की लाल धूल में
बिखर गईं वे आशाएँ;
आया हूँ मैं पलट आज, खो
अपनी सब अभिलाषाएँ!

मैं हूँ विजित, तिरस्कृत, घायल
अंग हुए जाते हैं श्रान्त,
लौट किन्तु आया हूँ घर को
जाने किस आशा में भ्रान्त !

केवल कहीं किसी के टूटे
हृदयगेह के कोने में,
सुत प्रणय के आँचल में मुख
छिपा दीन हो रोने में—

इतने ही तक सीमित है मम
घायल प्राणों की अब प्यास,
और कहीं आश्रय पाने की
नहीं रही अब मुझ को आस !

भग्न गेह की टूटी प्राचीरों का
कर फिर से निर्माण,
आत्मभर्त्सना की छाया में
सुला सुला बिखरे अरमान;

अन्धकार में तड़प-तड़प कर
मुझ को अब सो जाने दो—
विजिगीषा की स्मृति में
विजित व्यथा को आज भुलाने दो!

देहली जेल
१६ फरवरी, १९३२.

असाफल्य

कहाँ ? देव ! कितना भी चाहूँ,
नहीं दिखा वह पाता हूँ—
रोकर, हँसकर, दाँत पीस कर
असफल ही रह जाता हूँ !

उमड़ उमड़ आता है मानस
में भावों का पारावार—
किन्तु कहाँ रसना में शक्ति
सुझाए वह उलझा संसार !

दिया हृदय तो तुमने प्रेमी
जिसमें भरलूँ रुदन अथाह—
खोले नयन द्वार तो भी क्या
बह पावे वह प्रलय प्रवाह !

गायन की यति में ही तुम कर
लेना कविता का निर्म्माण—
रुद्ध गीत में भी पा लेना
भाव पयोनिधि का परिणाम !

विश्वनाथ! ठुकरा मेरे कल्पना—
जगत् को मत देना—
तेरी सेवा में अर्पित है
यही जान अपना लेना!

देहली जेल
१२ दिसम्बर, १९३१.

कवि

एक तीक्ष्ण अपांग से कविता उत्पन्न हो जाती है,
एक चुम्बन में प्रणय फलीभूत हो जाता है,

पर मैं अखिल विश्व का प्रेम खोजता फिरता हूँ,
क्योंकि मैं उस के असंख्य हृदयों का गाथाकार हूँ।

एक ही टीस से आँसू उमड़ आता है,
एक झिड़की से हृदय उच्छ्वसित हो उठता है।

पर मैं अखिल विश्व की पीड़ा सञ्चित कर रहा हूँ—
क्योंकि मैं जीवन का कवि हूँ।

सितम्बर, १९३२.